उमास्वामि
श्रावकाचार
परीक्षा
जुगलकिशोर मुख्तार

प्रकीर्णक-पुस्तकमालाका चतुर्थ पुष्प

उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा

[ऐतिहासिक-प्रस्तावना-सहित]

लेखक

जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर'

सरसावा जि० सहारनपुर

[ग्रन्थपरीक्षा ४ भाग, स्वामी समन्तभद्र, जिनपूजाधिकारमीमांसा, उपासनातत्त्व, विवाहसमुद्देश्य, विवाहक्षेत्रप्रक. जैनाचार्योंका शासनभेद, वीरपुष्पाञ्जलि, हम दुखी क्यों हैं, मेरीभावना, अनित्यभावना, महावीरसंदेश, सिद्धिसोपान और सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ आदि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता तथा अनेकान्तादि पत्रोंके सम्पादक।]

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर

सरसावा जि० सहारनपुर

प्रथमावृत्ति	आश्विन, वीरनिर्वाण सं० २४७०	मूल्य
५०० प्रति	विक्रम संवत २००१	सत्य-विवेक
	सन् १९४४	

धन्यवाद

इस पुस्तकके प्रकाशनार्थ मुनि श्रीसिद्ध-सागरजी महाराजने श्रीपंचान दिगम्बर जैन मन्दिर दीवान वृद्धिचन्द्रजी जयपुर आदिसे १५०) रु० की आर्थिक सहायता भिजवाई है। सन्मार्गकी रक्षार्थ आपकी इस लगनके लिये हार्दिक धन्य-वाद है। साथ ही, दातारोंको भी धन्यवाद है।

प्रकाशक

सम्राट् प्रिंटिंग वर्क्स, चावड़ी बाज़ार, देहली।

प्रस्तावना

यह ग्रन्थ-परीक्षा, जिसमें उमास्वामि-श्रावकाचारको एक जाली ग्रन्थ सिद्ध किया गया है, आजसे कोई इकतीस वर्ष पहले देवबन्दमें (मेरे मुख्तारकारी छोड़नेसे प्रायः तीन मास पूर्व) लिखी गई थी, सबसे पहले जैनहितैषी भाग १० के प्रथम दो अंकों (कार्तिक व मार्गशीर्ष वीरनिर्वाण सं० २४४०) में प्रकाशित हुई थी और इसी परीक्षा-लेखसे मेरी उस 'ग्रन्थ-परीक्षा' लेख-मालाका प्रारम्भ हुआ था, जो कई वर्ष तक उक्त जैनहितैषी पत्रमें बम्बई-से निकलती रही और बादको 'जैनजगत' में अजमेरसे भी प्रकट हुई है। इस परीक्षा-लेखका अनुमोदन करते हुए ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने इसे उसी समय अपने 'जैनमित्र' पत्रमें उद्धृत किया था, और दक्षिण प्रान्तके प्रसिद्ध विद्वान् सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी ऑनरेरी मजिस्ट्रेट शोलापुरने इसका मराठी भाषामें अनुवाद प्रकाशित कराया था। और भी कई परीक्षा-लेखोंका मराठी अनुवाद आपने प्रकाशित कराया था, और उसके द्वारा यह प्रकट किया था कि इस प्रकारके लेखोंका जितना अधिक प्रचार हो उतना ही वह समाजके लिए हितकर है।

इस परीक्षा-लेखके बाद जब 'कुन्दकुन्द-श्रावकाचार' की परीक्षा का लेख † 'जिनसेन-त्रिवर्णाचार' की परीक्षाके तीन लेख ‡ और

† यह लेख ता० १७ जनवरी १९१४ को देवबन्दमें लिखा गया और पौष वीरनिर्वाण संवत् २४४० के जैनहितैषी अंक ३ में प्रकट हुआ।

‡ ये लेख क्रमशः १२ जून, ८ जुलाई, १५ अगस्त सन् १९१४ को देवबन्दमें लिखे गये और जैनहितैषीके चैत्र-वैसाख, जेष्ठ तथा असाढ़ वीर-निर्वाण संवत् २४४० के अंकोंमें प्रकट हुए।

'भद्रबाहु-संहिता' की परीक्षाके तीन लेख* जैनहितैषीमें निकल चुके तब सितम्बर सन् १९१७ में उस पत्रके सम्पादक जैनसमाजके प्रसिद्ध विद्वान पं० नाथूरामजी प्रेमीने इन सब लेखोंको दो भागोंमें अपने जैनग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय बम्बईसे अलग पुस्तकके रूपमें प्रकट किया था—प्रथम भागमें प्रथम तीन ग्रन्थोंके और द्वितीय भागमें एकमात्र भद्रबाहु-संहिताके परीक्षा-लेखोंका संग्रह था। इन दोनों भागोंमें प्रेमीजीने अपना जो 'निवेदन'† दिया है उसके निम्न वाक्य पाठकोंके जानने योग्य हैं और वे इन परीक्षा-लेखोंके प्रभावके साथ साथ समाजकी तत्कालीन और उन लेखोंसे उत्पन्न हुई स्थितिका कुछ बोध करानेके लिये समर्थ हैं:—

"इन लेखोंने जैनसमाजको एक नवीन युगका सन्देश सुनाया है, और अन्धश्रद्धाके अँधेरेमें निद्रित पड़े हुए लोगोंको चकचौंधा देनेवाले प्रकाशसे जाग्रत कर दिया है। यद्यपि बाह्यदृष्टिसे अभी तक इन लेखोंका कोई स्थूलप्रभाव व्यक्त नहीं हुआ है तो भी विद्वानोंके अन्तरंगमें एक शब्दहीन हलचल बराबर हो रही है, जो समय पर कोई अच्छा परिणाम लाये बिना नहीं रहेगी।

जैनधर्मके उपासक इस बातको भूल रहे थे कि जहाँ हमारे धर्म या सम्प्रदायमें एक ओर उच्चश्रेणीके निःस्वार्थ और प्रतिभाशाली ग्रन्थकर्त्ता उत्पन्न हुए हैं वहाँ दूसरी ओर नीचे दर्जेके स्वार्थी और तस्कर लेखक भी हुए हैं, अथवा हो सकते हैं, जो अपने खोटे सिक्कोंको महापुरुषोंके नामकी मुद्रासे अंकित करके खरे

* ये लेख क्रमशः २९ सितम्बर तथा १५ नवम्बर सन् १९१६ और जनवरी १९१७ को देवबन्दमें लिखकर समाप्त हुए और जैनहितैषी भाग १२ के सितम्बर-अक्टूबर, नवम्बर-दिसम्बर सन् १९१६ और फरवरी सन् १९१७ के अंकोंमें पहली बार प्रकाशित हुए।

† निवेदनकी मिती द्वि० भाद्र कृष्ण ७, सं० १९७४ वि० है।

दार्मोंमें चलाया करते हैं। इस भूलके कारण ही आज हमारे यहाँ भगवान् कुन्दकुन्द और सोमसेन, समन्तभद्र और जिनसेन (भट्टारक), तथा पूज्यपाद और श्रुतसागर एक ही आसन पर बिठाकर पूजे जाते हैं। लोगोंकी सदसद्विवेकबुद्धिका लोप यहाँ तक हो गया है कि वे संस्कृत या प्राकृतमें लिखे हुए चाहे जैसे वचनोंको आप्त भगवानके वचनोंसे जरा भी कम नहीं समझते! ग्रन्थपरीक्षाके लेखोंसे हमें आशा है कि भगवान महावीरके अनुयायी अपनी इस भूलको समझ जायँगे और वे आप अपनेको और अपनी सन्तानको धूर्त ग्रन्थकारोंकी चुंगलमें न फँसने देंगे।

जिस समय ये लेख निकले थे, हमारी इच्छा उसी समय हुई थी कि इन्हें स्वतंत्र पुस्तकाकार भी छपवा लिया जाय, जिससे इस विषयकी ओर लोगोंका ध्यान कुछ विशेषतासे आकर्षित हो; परंतु यह एक बिलकुल ही नये ढंगकी चर्चा थी, इसलिये हमने उचित समझा कि कुछ समय तक इस सम्बन्धमें विद्वानोंकी सम्मतिकी प्रतीक्षा की जाय। प्रतीक्षा की गई और खूब की गई। लेखमालाके प्रथम तीन लेखोंको प्रकाशित हुए तीन वर्षसे भी अधिक समय बीत गया; परंतु कहींसे कुछ भी आहट न सुन पड़ी; विद्वन्मण्डली की ओरसे अब तक इनके प्रतिवादमें कोई एक भी लेख नहीं निकला; बल्कि बहुतसे विद्वानोंने हमारे तथा लेखक महाशयके समक्ष इस बातको स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया कि आपकी समालोचनायें यथार्थ हैं।"

इन लेखोंके बाद ता० ८ अगस्त १९१७को बम्बईमें 'धर्मपरीक्षा' (श्वेताम्बरीय) की परीक्षा लिखी गई, जो उसी समय जैनहितैषी भाग १३ अंक ७ में प्रकट हुई थी। फिर कुछ वर्षोंके बाद कई मित्रोंका यह तीव्र अनुरोध हुआ कि 'सोम-सेन-त्रिवर्णाचार'को भी परीक्षा लिखी जाय—उन्होंने इस त्रिवर्णाचारकी परीक्षाके लिखे

जानेको तब बहुत ही आवश्यक महसूस किया; क्योंकि मराठी अनुवादात्मक संस्करणके बाद उस समय वह त्रिवर्णाचार हिन्दी अनुवादके साथ भी प्रकाशित हो गया था और उससे बड़ा अनर्थ हो रहा था। तदनुसार, यथेष्ट समय पासमें न होते हुए भी, मुझे दूसरे जरूरी कामोंको गौण करके इस त्रिवर्णाचारकी परीक्षामें प्रवृत्त होना पड़ा और उसने मेरा डेढ़ वर्षके करीबका समय ले लिया। परीक्षा खूब विस्तारके साथ लगभग ३० फार्मकी अनेक लेखोंमें लिखी गई, और जन्मभूमि सरसावामें ज्येष्ठ कृष्ण १३ विक्रम संवत् १६८४ (ता० १७ मई सन १६२८) को लिखकर समाप्त हुई। ये परीक्षालेख* उस समय 'जैनजगत' पत्रमें १ मई सन् १६२७ से प्रकाशित होने प्रारंभ हुए थे। और इनके प्रकाशित हो चुकनेसे कोई तीन महीने बाद ही सितम्बर सन् १६२८ में जैनग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय बम्बईने इन्हें ग्रंथपरीक्षा-तृतीय भागके रूपमें अलग प्रकट किया था, और इनके साथमें उक्त 'धर्मपरीक्षा' के परीक्षा-लेखको भी दे दिया था तथा अकलंक-प्रतिष्ठापाठकी जाँच† और पूज्यपाद-उपासकाचारकी जाँच‡ नामके मेरे दो और लेखोंको भी शामिल कर दिया था। ग्रन्थपरीक्षाके इस तृतीय भागकी 'भूमिका' (भाद्र कृ० २, सं० १६८५)में पं० नाथूरामजी प्रेमीने जैनसाहित्यमें विकार, भट्टारकीययुगके कारनामों और दिगम्बर तेरहपन्थकी उत्पत्ति तथा उसके कार्य एवं प्रभावादिका कुछ दिग्दर्शन कराते हुए इन

---

* इन लेखोंकी संख्याका स्मरण नहीं; और लेखोंकी मूल कापियाँ अथवा जैनजगत्की फाइलें सामने न होनेसे उनकी अलग अलग तारीखें आदि भी नहीं दी जा सकीं।

† यह लेख २६ मार्च सन् १६१७ को देवबन्दमें लिखा गया।

‡ यह लेख २५ नवम्बर सन् १६२१ को सरसावामें लिखा गया।

परीक्षालेखोंकी विशेषतादिके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है उसमें के कुछ वाक्य इस प्रकार हैं :—

"मैं नहीं जानता हूँ कि पिछले कई सौ वर्षोंमें किसी भी जैन विद्वानने कोई इस प्रकारका समालोचक ग्रन्थ इतने परिश्रम-से लिखा होगा और यह बात तो बिना किसी हिचकिचाहटके कही जा सकती है कि इस प्रकारके परीक्षा लेख जैन साहित्यमें सबसे पहले हैं और इस बातकी सूचना देते हैं कि जैन समाज-में तेरहपन्थ द्वारा स्थापित परीक्षा-प्रधानताके भाव नष्ट नहीं हो गये हैं। वे अब और भी तेजीके साथ बढ़ेंगे और उनके द्वारा मलिनीकृत जैनशासन फिर अपनी प्राचीन निर्मलताको प्राप्त करनेमें समर्थ होगा।" × × ×

"ये परीक्षालेख इतनी सावधानीसे और इतने अकाट्य प्रमाणोंके आधारपर लिखे गये हैं कि अभी तक उन लोगोंकी ओरसे जो कि त्रिवर्णाचारादि भट्टारकी साहित्यके परमपुरस्कर्त्ता और प्रचारक हैं, इनकी एक पंक्तिका भी खण्डन नहीं किया गया है और न अब इसकी आशा ही है। ग्रन्थपरीक्षाके पिछले दो भागोंको प्रकाशित हुए लगभग एक युग (१२ वर्ष) बीत गया। उस समय एक-दो पण्डितमन्योंने इधर उधर घोषणायें की थीं कि हम उनका खण्डन लिखेंगे, परन्तु वे अब तक लिख ही रहे हैं। यह तो असंभव है कि लेखोंका खण्डन लिखा जा सकता और फिर पण्डितोंका दलका दल चुपचाप बैठा रहता; परन्तु बात यह है कि इनपर कुछ लिखा ही नहीं जा सकता। थोड़ी बहुत पोल होती, तो वह ढँकी भी जा सकती; परन्तु जहाँ पोल ही पोल है, वहाँ क्या किया जाय? ग़रज़ यह कि यह लेख-माला प्रतिवादियोंके लिये लोहेके चने हैं, यह सब तरहसे स-प्रमाण और युक्तियुक्त लिखी गई है।"

प्रेमीजीके इन सब अनुभवपूर्ण वाक्यों और हृदयोद्गारोंसे यद्यपि यह सहजमें ही समझा जा सकता है कि ये परीक्षालेख किस प्रकृतिके हैं और इन्होंने जैन समाजको कितना प्रभावित एवं जागृत किया है, फिर भी मैं यहां इतना और बतला देना चाहता हूँ कि श्रीमान माननीय पं० गोपालदासजी बरैय्याने जिस 'जिनसेन-त्रिवर्णाचार'को खतौलीके दस्सा-बीसा केसमें अपनी गवाहीके साथ बतौर प्रमाणके उपस्थित किया था उसकी परीक्षाके जब मेरे लेख निकल चुके और उनसे वह स्पष्ट जाली ग्रन्थ प्रमाणित हो गया तब उन्होंने अपने मोरेना-विद्यालयके पठनक्रमसे सभी त्रिवर्णाचारोंको निकाल दिया था; और यह उनके हृदय-परिवर्तन, गुण-ग्रहण और भूल-संशोधनका एक ज्वलन्त उदाहरण था। दूसरे शब्दोंमें यह उस शब्दहीन हलचलका ही एक परिणाम था जो विद्वानोंके हृदयोंमें मेरी लेखमालाके निकलते ही पैदा हो गई थी और जिसके विषयमें प्रेमीजीने यह भविष्यवाणीकी थी कि 'वह समय पर कोई अच्छा परिणाम लाये बिना नहीं रहेगी।'

प्रेमीजीकी यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य निकली और उस शब्दहीन हलचलका स्थूल परिणाम उस समय देखनेको मिला जब कि सितम्बर सन् १९३० में 'चर्चासागर' जैसा भ्रष्ट ग्रन्थ प्रकाशमें आया और बाबू रतनलालजी झांझरी कलकत्ताके द्वारा उसका कुछ प्राथमिक परिचय पाते ही सैकड़ों विद्वान तथा प्रतिष्ठित पुरुष 'चर्चासागर'को लेकर ऐसे दूषित ग्रन्थोंका विरोध करनेके लिये मैदानमें आगये—उन्होंने विरोधमें आवाज ही नहीं उठाई, पंचायतों द्वारा प्रस्ताव ही पास नहीं कराए बल्कि कितने ही विद्वानोंने जोरदार लेखनी भी उठाई है। कलकत्ताके सेठ गंभीरमलजी पाँड्याने तो पश्चात्तापपूर्वक यह भी प्रकट किया है कि उन्होंने

चर्चासागरके प्रकाशनार्थ द्रव्यकी सहायता देनेमें धोखा खाया है।

उक्त 'ग्रन्थपरीक्षा' लेखमालासे पहले आमतौर पर समाजके विद्वानों तकमें इतना मनोबल और साहस नहीं था कि वे जैनकी मुहर लगे हुए और जैन मन्दिरोंके शास्त्र-भण्डारोंमें विराजित किसी भी ग्रन्थके विरोधमें प्रकटरूपसे कोई शब्द कह सकें। और तो क्या, मेरे परीक्षा-लेखोंको पढ़कर और उनपर से यह जानकर भी कि वे ग्रन्थ धूर्तोंके रचे हुए जाली तथा बनावटी हैं बहुतोंको उनपर अपनी स्पष्ट सम्मति देनेकी हिम्मत तक नहीं हुई थी—हालाँकि उसे अच्छी जाँच-पड़ताल-पूर्वक देनेके लिये मैंने बार बार विद्वानोंसे निवेदन भी किया था। उनका वह संकोच चर्चा-सागरकी चर्चाओंके वातावरणमें विलीन होगया और वे भी अपने लेखादिकोंके द्वारा उन ग्रन्थपरीक्षाओंका अभिनन्दन करने लगे। कुछ विद्वानोंको आर्यसमाजके साथके शास्त्रार्थों तकमें यह घोषित कर देना पड़ा कि हम इन त्रिवर्णाचार जैसे ग्रन्थोंको प्रमाण नहीं मानते। यह सब देखकर जैनजगत्के सह-सम्पादक बाबू फतहचन्दजी सेठीने अपने २३ नवम्बर सन् १९३१ के पत्रमें मुझे लिखा था—

" 'चर्चासागर'के सम्बन्धमें जैनसमाजमें जो चर्चा चल रही है, उसमें प्रत्यक्षरूपसे यद्यपि आप भाग नहीं ले रहे हैं, किन्तु वास्तवमें इसका सारा श्रेय आपको है। यह सब आपके उस परिश्रमका फल है जो आजसे करीब १०-१२ (१८) वर्ष पहलेसे आप करते आ रहे हैं। जिस बातके कहनेके लिये उस समय आपको गालियाँ मिली थीं, वही आज स्थितिपालकदलके स्तम्भों द्वारा कही जा रही है।"

इसी समयके लगभग पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थने, जिन्हों-ने पहलेसे मेरी ग्रन्थपरीक्षाओं तथा दूसरी विवेचनात्मक पुस्तकों-

को नहीं पढ़ा था, ग्रन्थपरीक्षाके तृतीय भाग और 'विवाह-क्षेत्र-प्रकाश' को पढ़कर अपने १६ नवम्बरके पत्रमें लिखा था—

"आपकी इन पुस्तकोंको पढ़कर बड़ा ही आनन्द आता है। ये सब पुस्तकें विद्यार्थी-जीवनमें ही पढ़ लेना चाहियें थीं, मगर दुःखका विषय है कि उन पांजरापोलों या कांजीहाउसों (कानीभौतों) में विद्यार्थियोंको ऐसे साहित्यका भान भी नहीं कराया जाता है। मेरी प्रबल इच्छा है कि आपकी और प्रेमीजी की तमाम रचनायें पढ़ जाऊँ। क्या आप नाम लिखने की कृपा करेंगे?...... खेद है कि सामाजिक संस्थाओंमें हम लोग इन ज्ञान व्यापक बनाने वाली पुस्तकोंसे बिल्कुल अपरिचित रक्खे जाते हैं। इसी लिये विद्यार्थी ढब्बू निकलते हैं।"

इन्हीं पं० परमेष्ठीदासजीने, दूसरी ग्रन्थपरीक्षाओंको भी पढ़कर, चर्चासागरकी समीक्षा लिखी है। यद्यपि आपने और दूसरे भी कुछ विद्वानोंने मुझे चर्चासगरकी भी साङ्गोपाङ्ग परीक्षा लिख देनेकी प्रेरणा की थी परन्तु मैं उस समय चर्चासागरके बड़े भाई 'सूर्यप्रकाश' की परीक्षाके कामको हाथमें ले चुका था और पासमें अवकाश ज़रा भी नहीं था, इसलिये क्षमा-याचना ही करनी पड़ी थी। इन पं० परमेष्ठीदासजीने ग्रन्थपरीक्षाके मार्गको अपनाया है, और भी दानविचार तथा सुधर्मश्रावकाचार जैसे ग्रन्थोंकी समीक्षाएँ इन्होंने बादको लिखी हैं, जो सब प्रकट होचुकी हैं। इस तरह ग्रन्थपरीक्षाका जो राजमार्ग खुला है उसपर कितनों ही को चलता तथा चलनेके लिये उद्यत देखकर मेरी प्रसन्नता का होना स्वाभाविक था, और जिसे मैंने उस समय व्यक्त भी किया था।

यहाँ पर मैं यह भी बतला देना चाहता हूँ कि 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थकी गोमुखव्याघ्रता चर्चासागरसे भी बढ़ी चढ़ी है। यह भी जैनत्वसे गिरा हुआ जैनग्रन्थोंका कलंक है, भ० महावीरके पवित्र

नामको कलंकित तथा जैनशासनको मलिन करनेवाला है, सिर-से पैर तक जाली है और विषमिश्रित भोजनके समान त्याज्य है। इसका अनुवाद भी अधिक निरंकुशता, धूर्त्तता एवं अर्थके अनर्थको लिये हुए है। ये सब बातें इस ग्रन्थके परीक्षा-लेखोंमें दिनकर-प्रकाशकी तरह स्पष्ट करके बतलाई गई हैं। परीक्षा-लेख जैनजगत' में १६ दिसम्बर सन् १६३१ के अङ्कसे प्रारम्भ होकर पहली फर्वरी सन् १६३३ तकके अङ्कोंमें प्रकट हुए थे, जिन्हें बाद-को जनवरी सन् १६३४ में ला० जौहरीमलजी जैन सर्राफ, दरीबा-कलाँ देहलीने, मुझसे ही संशोधित कराकर, पुस्तकरूपमें प्रकाशित कराया है और यह ग्रन्थपरीक्षाका चतुर्थ भाग है*।

जब इस ग्रन्थ-परीक्षाको 'जैनजगत'में प्रकट होते हुए सालभर होगया था तब रायबहादुर साहू जुगमन्दरदासजी जैन रईस नजीबाबादने भा० दि० जैन परिषद्के नवम अधिवेशनमें सभा-पतिपदसे जो भाषण सहारनपुरमें ता० ३० दिसम्बर सन १६३२ को दिया था उसमें ग्रन्थपरीक्षाके पिछले तीन भागोंके साथ इस ग्रन्थपरीक्षाका भी अभिनन्दन किया था और कहा था कि—

"उसे (सूर्य प्रकाश-परीक्षाको) देखकर तो मेरे शरीरके रोंगटे खड़े होगये! भगवान महावीरके नामपर कैसा कैसा अनर्थ किया गया है और जैन शासनको मलिन करनेका कैसा नीच प्रयास किया गया है यह कुछ भी कहते नहीं बनता! पं० टोडरमलजी आदि कुछ समर्थ विद्वानोंके प्रयत्नसे भट्टारकीय साहित्य लुप्तप्राय होगया था परन्तु दुःखका विषय है कि अब कुछ भट्टारकानुयायी पण्डितोंने उसका फिरसे उद्धार करनेका बीड़ा उठाया है। अतः

---

* यह १७६ पृष्ठोंकी पुस्तक उक्त ला० जौहरीमलके तथा बा० पन्नालाल जैन, १६६५ मुहल्ला चर्खेवालाँ, देहलीके पाससे छह आनेमें मिलती है।

समाजको अपने पवित्र साहित्यकी रक्षाके लिये सतर्कताके साथ सावधान होजाना चाहिये और ऐसे दूषित ग्रन्थोंका जोरोंके साथ बहिष्कार करना चाहिये, तभी हम अपने पवित्र धर्म और पूज्य आचार्योंकी कीर्तिको सुरक्षित रख सकेंगे।"

इस ग्रन्थपरीक्षा (चतुर्थ भाग) के साथमें पं० दीपचन्दजी वर्णीके 'मेरे विचार' लगे हुए हैं, जिनमें परीक्षाका अभिनन्दन करते हुए इस ग्रन्थको सोमसेन-त्रिवर्णाचारसे भी अधिक दूषित, शास्त्रविरुद्ध तथा महा आपत्तिके योग्य ठहराया है। साथ ही, साहित्यरत्न पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थकी महत्वपूर्ण 'भूमिका' (७ नवम्बर सन १९३३) भी लगी हुई है। उस समय भट्टारकानुयायी कुछ पण्डितोंको जब ग्रन्थपरीक्षाओंके विरोधमें कुछ भी युक्ति-युक्त कहनेके लिये न रहा तब उन्होंने अन्तिम हथियार के रूपमें यह कहना शुरू किया था कि—

१. "बस! परीक्षा मत करो। परीक्षा करना पाप है। सरस्वतीकी परीक्षा करना माताके सतीत्वकी परीक्षा करनेके समान निन्द्य है। जब हम माँ बापकी परीक्षा नहीं करते तब हमें सरस्वतीकी परीक्षा करने का क्या हक़ है? दुनियांके सैकड़ों कार्य बिना परीक्षाके चलते हैं।"
२. "जिन शास्त्रोंसे हमने अपनी उन्नति की उनकी परीक्षा करना तो कृतघ्नता है।"
३. "हम शास्त्रकारसे अधिक बुद्धिमान हों तो परीक्षा कर सकते हैं।"

भूमिकामें इन सब बातोंका खूब युक्ति-पुरस्सर उत्तर दिया गया है और उन्हें सब प्रकारसे निःसार तथा निर्लज्जता-मूलक ठहराया गया है। साथ ही, ग्रन्थ और उसकी परीक्षाके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है उसके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

"कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने ग्रन्थपर तो अपना नाम दिया है परन्तु उसमें भ० महावीर आदिके मुखसे इस प्रकारके वाक्य कहलाये हैं जो जैन धर्मके विरुद्ध, क्षुद्रतापूर्ण और दलबन्दीके आक्षेपोंसे भरे हैं। इसी श्रेणीके ग्रन्थोंमें 'सूर्यप्रकाश' भी एक है, जिसकी अधार्मिकता और अनौचित्यका इस पुस्तकमें मुख्तार साहबने बड़ी अच्छी तरहसे प्रदर्शन किया है। इस प्रकारके जाली ग्रन्थोंका भण्डाफोड़ करनेके कार्यमें मुख्तार साहब सिद्धहस्त हैं। आपने भद्रबाहु-संहिता, कुन्दकुन्द-श्रावकाचार, उमास्वामि-श्रावकाचार, जिनसेन-त्रिवर्णाचार आदि जाली ग्रन्थोंकी परीक्षा करके शास्त्र-मूढताको हटानेका सफलता-पूर्ण और प्रशंसनीय उद्योग किया है।"

× × × ×

"संक्षेपमें इतना ही कहा जासकता है कि जाली ग्रन्थोंमें जितनी धूर्तता और क्षुद्रता होसकती है वह सब इस (सूर्यप्रकाश) में है, और उसकी परीक्षाके विषयमें तो मुख्तार साहबका नाम ही काफी है। यह खेद और लज्जाकी बात है कि सूर्यप्रकाशसरीखे भ्रष्ट ग्रन्थोंके प्रचारक ऐसे लोग हैं जिन्हें कि बहुतसे लोग भ्रम-वश विद्वान और मुनि समझते हैं। ....आशा है इस परीक्षाग्रन्थको पढकर बहुतसे पाठकोंका विवेक जाग्रत होगा।"

इस ग्रन्थपरीक्षा (चतुर्थ भाग) के साथमें कुछ विद्वानोंकी सम्मतियाँ भी लगी हैं, जिनमेंसे न्यायालंकार पं० वंशीधरजी 'सिद्धान्तमहोदधि', इन्दौरकी सम्मति इस प्रकार है:—

"आपकी जो अति पैनी बुद्धि सचमुच सूर्यके प्रकाश का भी विश्लेषण कर उसके अन्तर्वर्ति तत्त्वोंके निरूपण करनेमें कुशल है उसके द्वारा यदि नामतः सूर्यप्रकाशकी समीक्षा की गई है तो उसमें का कोई भी तत्त्व गुह्य नहीं रह सकता है। अनुवादकके

हृदयका भी सच्चा फोटू आपने प्रगट कर दिखाया है। अपकी यह परीक्षा तथा पूर्व-लिखित ग्रन्थपरीक्षाएँ बड़ी कामकी चीजें होंगी।"

इस प्रकार यह 'ग्रन्थपरीक्षा' लेखमाला और उसके प्रभावादिकका संक्षिप्त इतिहास है। इस लेखमालाने जनताको सत्यका जो विवेक कराया है, जाली सिक्कों को परखनेके लिये परीक्षा और जाँचकी जो दृष्टि तथा कसौटी प्रदान की है, परीक्षा-प्रधानता और सत्य-वादिताको अपनानेकी जो शिक्षा दी है, बड़े आचार्योंके नामसे न ठगाये जाकर वास्तविकताको मालूम करने की जो प्रेरणा की है, अन्धानुसरण कर अहितमें प्रवृत्त होनेसे रोकनेकी जो चेष्टा की है, प्राचीन ऋषि-महर्षियोंकी निर्मल कीर्ति को मलिन न होने देकर उसकी सुरक्षाका जो प्रयत्न किया है, और शास्त्र-मूढ़ता अथवा अन्धश्रद्धाके वातावरणको हटाकर विचार-स्वातंत्र्य एवं सुनिर्णीतिके ग्रहणको जो प्रोत्तेजन दिया है, वह सब इस लेखमालाके लेखोंको पढ़नेसे ही सम्बन्ध रखता है, और उससे लेखमालाका उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है।

अब मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूं कि इस ग्रन्थपरीक्षाके कार्यमें मेरी प्रवृत्ति कैसे हुई ? मेरे हृदयमें गृहस्थ धर्मपर 'गृहि-धर्मानुशासन' नामसे एक सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ लिखनेका विचार उत्पन्न हुआ, जो गृहस्थ-धर्म-सम्बन्धी अप-टु-डेट सब बातोंका उत्तर दे सके और जिसकी मौजूदगीमें बहुतसे श्रावकाचारादि ग्रन्थोंसे विषयके अनुसन्धान आदि की जरूरत न रहे। इसके लिये आचार-विषयक सभी प्राचीन ग्रन्थोंको देखलेने की जरूरत पड़ी, जिससे कोई बात अन्यथा अथवा आगमके विरुद्ध न लिखी जा सके। ग्रन्थ-सूचियों में उमास्वामि-श्रावकाचार और कुन्दकुन्द-श्रावकाचार जैसे ग्रन्थों-का नाम मिलनेपर सबसे पहले उन्हींको मँगाकर देखनेकी ओर

प्रवृत्ति हुई। और उन्हें देखते हुए जब यह मालूम पड़ा कि ये ग्रन्थ जाली हैं—कुछ धूर्तोंने अपना उल्लू सीधा करनेके लिए बड़े आचार्योंके नामपर उन्हें रचा है; तब मुझसे न रहा गया और मैं लोकहितकी दृष्टिसे परीक्षाद्वारा उन ग्रन्थोंकी असलियतको सर्वसाधारणपर प्रकट करनेके लिये उद्यत होगया। बादको जिनसेन-त्रिवर्णाचार, सोमसेन-त्रिवर्णाचार और भद्रबाहु-संहिता जैसे और भी कितने ही जाली तथा अर्ध जाली ग्रन्थ सामने आते रहे और उनकी परीक्षाके लिये विवश होना पड़ा। प्रसन्नताका विषय है कि मुझे इस काममें अच्छी सफलताकी प्राप्ति हुई है और मेरे इस कार्यने एक प्रकारसे विद्वानोंकी विचार-धाराको ही बदल दिया है। वे इस प्रकारके साहित्यसे अब बहुत कुछ सावधान हो गये हैं और तुलनात्मक-पद्धतिसे अध्ययनमें रुचि भी रखने लगे हैं। अस्तु।

अभी कितने ही ग्रन्थ दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके शास्त्र-भण्डारोंमें ऐसे पड़े हुए हैं जो जाली हैं, जैनत्वसे गिरे हुए हैं और जिनका असली रूप परीक्षा-द्वारा सर्वसाधारण-पर प्रकट करना समाजके लिए हितकर है। अभी भी ऐसे कई ग्रन्थोंकी परीक्षाके लिये मुझे प्रेरणा की जा रही है, परन्तु मेरे पास जरा भी अवकाश नहीं, इसलिये मजबूर हो रहा हूँ। इस कार्यके लिये दूसरे अनेक विद्वानोंके आगे आनेकी जरूरत है, और तभी वह सुसम्पन्न हो सकेगा।

अन्तमें मैं इतना और भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि ग्रंथ-परीक्षाके प्रथम तीन भाग समाप्त हो चुके हैं, मिलते नहीं। अनेक सज्जन इधर उधर तलाश करने पर भी जब उन्हें नहीं पाते तब मुझे लिखते हैं और मैं भी उन्हें भेजने तथा भिजवानेमें प्रायः असमर्थ रहता हूँ। अतः कुछ समाज हितैषियोंको उन्हें फिरसे

छपानेकी जरूरत है। साथ ही, इस बातकी भी जरूरत है कि ये परीक्षाग्रंथ विद्यालयोंकी उच्चकक्षाओंके विद्यार्थियोंको पढ़नेके लिए दिए जावें, जिससे उनका ज्ञान व्यापक बन सके और वे यथेष्ट रूपमें प्रगति कर सकें। ऐसा होनेपर पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ की विद्यासंस्थाओं पर की गई वह आपत्ति भी दूर हो सकेगी जो उनके उक्त पत्रसे प्रकट है।

पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हालमें भट्टारकीय साहित्यके कुछ पुरस्कर्त्ताओंने उमास्वामि-श्रावकाचारको भाषा-टीकाके साथ प्रकाशित करने की धृष्टता की है। इसीसे मुनि श्री सिद्धिसागरजी महाराजने, उस ग्रन्थसे होनेवाले अनर्थोंको टालने तथा भोले जीवोंको बहककर अथवा भुलावेमें पड़कर मिथ्यात्वकी ओर प्रवृत्ति करनेसे रोकनेके लिये, मुझे इस ग्रंथपरीक्षाको फिरसे प्रकाशित करनेकी सानुरोध प्रेरणा की है। उसीके फल-स्वरूप यह ग्रंथपरीक्षा वीर-सेवा-मन्दिरसे प्रकाशित की जा रही है। इसका अधिकांश श्रेय उक्त मुनिजीको ही प्राप्त है।

प्रस्तावना लिखते समय मैं यह चाहता था कि उक्त प्रकाशित ग्रन्थको इस दृष्टिसे देख लिया जाय कि उसकी भूमिकादिमें इस ग्रन्थपरीक्षाके सम्बन्धमें कुछ लिखा तो नहीं है, यदि लिखा हो तो उसका भी विचार साथमें कर दिया जाय। परन्तु खोजने पर भी यहाँ देहलीमें, जहाँ मैं कोई दो महीनेसे स्थित हूँ, उसकी कोई प्रति अपनेको नहीं मिल सकी और न लिखनेपर जयपुर-से ही वह आ सकी है। इसीसे उसके विषयका कोई खास उल्लेख इस प्रस्तावनामें नहीं किया जा सका।

आश्विनी पूर्णिमा
वि० सं० २००१

जुगलकिशोर मुख्तार

उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा

जैनसमाजमें उमास्वामी या 'उमास्वाति' नामके एक बड़े भारी विद्वान आचार्य होगये हैं; जिनके निर्माण किये हुये तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और गंधहस्तिमहाभाष्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण बड़ी बड़ी टीकायें और भाष्य बन चुके हैं। जैन सम्प्रदायमें भगवान् उमास्वामीका आसन बहुत ऊँचा है और उनका पवित्र नाम बड़े ही आदरके साथ लिया जाता है। उमास्वामी महाराज श्रीकुन्दकुन्द महाराजके प्रधान शिष्य गिने जाते हैं और उनका अस्तित्व विक्रमकी पहली शताब्दीके लगभग माना जाता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के सिवाय, भगवत उमास्वामीने किसी अन्य ग्रन्थका प्रणयन किया या नहीं? और यदि किया तो किस किस ग्रन्थका? यह बात अभी तक प्रायः अप्रसिद्ध है। आमतौरपर जैनियोंमें, आपकी कृतिरूपसे, तत्त्वार्थसूत्रकी ही सर्वत्र प्रसिद्धि पाई जाती है। शिलालेखों तथा अन्य आचार्योंके बनाए हुए ग्रन्थोंमें भी, उमास्वामीके नामके साथ 'तत्त्वार्थसूत्र' का ही उल्लेख मिलता है। *

---

* यथाः—

"अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिन-प्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन॥"
—श्रवणबेल्गोलस्थ-शिलालेख

"श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम्॥"
— वादिराजसूरि

" उमास्वामि-श्रावकाचार " भी कोई ग्रन्थ है इतना परिचय मिलते ही पाठकोंके हृदयोंमें स्वभावसे ही यह प्रश्न उत्पन्न होना संभव है कि, क्या उमास्वामी महाराजने कोई प्रथक् ' श्रावकाचार ' भी बनाया है ? और यह श्रावकाचार, जिसके साथमें उनके नामका सम्बन्ध है, क्या वास्तवमें उन्हीं उमास्वामी महाराजका बनाया हुआ है जिन्होंने कि ' तत्वार्थ सूत्र ' की रचना की है ? अथवा इसका बनाने वाला कोई दूसरा ही व्यक्ति है ? जिस समय सबसे पहले मुझे इस ग्रन्थके शुभ नामका परिचय मिला था, उस समय मेरे हृदयमें भी ऐसे ही विचार उत्पन्न हुए थे। मेरी बहुत दिनोंसे इस ग्रन्थके देखनेकी इच्छा थी। परन्तु ग्रन्थ न मिलनेके कारण वह अभीतक पूरी न हो सकी थी। हालमें श्रीमान् साहू जुगमंदरदासजी रईस नजीबाबादकी कृपासे मुझे ग्रन्थका दर्शनसौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिसके लिए मैं उनका हृदयसे आभार मानता हूं और वे मेरे विशेष धन्यवादके पात्र हैं।

इस ग्रन्थपर हिन्दी भाषाकी एक टीका भी मिलती है, जिसको किसी 'हलायुध' नामके पंडितने बनाया है। हलायुधजी कब और कहाँ पर हुए और उन्होंने किस सन्–सम्वत्में इस भाषा टीकाको बनाया इसका कुछ भी पता उक्त टीकासे नहीं लगता। हलायुधजीने इस विषयमें, अपना जो कुछ परिचय दिया है उसका एक मात्र परिचायक, ग्रन्थके अन्त में दिया हुआ, यह पद्य है:—

चंद्रवाड कुलगोत्र सुजानि। नाम हलायुध लोक बखानि।
तानैं रचि भाषा यह सार। उमास्वामिको मूल सुसार ॥ "

इस ग्रन्थके श्लोक नं० ४०१ की टीकामें, 'दुःश्रुति' नामके अनर्थदंडका वर्णन करते हुए, हलायुधजीने **मोक्षमार्गप्रकाश, ज्ञानानंदनिर्भरनिजरसपूरितश्रावकाचार, सुदृष्टितरंगिणी, उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला, रत्नकरंडश्रावकाचार**की पं० सदासुखजीकृत **भाषावचनिका और विद्वज्जनबोधक**को पूर्वानुसाररहित, निर्मूल और कपोलकल्पित बतलाया है। साथ ही, यह भी लिखा है कि " इन शास्त्रोंमें

आगम—विरुद्ध कथन किया गया है; ये पूर्वापरविरुद्ध होनेसे अप्रमाण हैं, वाग्जाल हैं; भोले मनुष्योंको रंजायमान करें हैं; ज्ञानी जनोंके आदरणीय नहीं हैं, इत्यादि।" पं० सदासुखजीकी भाषावचनिकाके विषयमें खास तौरसे लिखा है कि, "रत्नकरण्ड मूल तो प्रमाण है बहुरि देशभाषा अप्रमाण है। कारण पूर्वापरविरुद्ध, निन्दाबाहुल्य, आगमविरुद्ध क्रम-विरुद्ध, वृत्तिविरुद्ध, सूत्रविरुद्ध, वार्तिकविरुद्ध कई दोषनि करि मंडित है यातैं अप्रमाण, वाग्जाल है।" इन ग्रंथोंमें क्षेत्रपाल—पूजन, शासनदेवता-पूजन, सकलीकरणविधान और प्रतिमाके चंदनचर्चन आदि कई बातोंका निषेध किया गया है, जलको अपवित्र बतलाया गया है, खड़े होकर पूजनका विधान किया गया है; इत्यादि कारणोंसे ही शायद हलायुधजीने इन ग्रंथोंको अप्रमाण और आगमविरुद्ध ठहराया है। अस्तु; इन ग्रंथोंकी प्रमाणता या अप्रमाणताका विषय यहाँ विवेचनीय न होनेसे, इस विषयमें कुछ न लिखकर मैं यह बतला देना जरूरी समझता हूँ कि हलायुधजीके इस कथन और उल्लेखसे यह बात बिलकुल हल हो जाती है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि आपकी यह टीका 'रत्न-करंडश्रावकाचार' की (पं० सदासुखजीकृत) भाषावचनिका तथा 'विद्वज्जनबोधक' की रचनाके पीछे बनी है; तभी उसमें इन ग्रंथोंका उल्लेख किया गया है। पं० सदासुखजीने रत्नकरंडश्रावकाचारकी उक्त भाषावचनिका विक्रम सम्वत् १९२० की चैत्र कृष्ण १४ को बनाकर पूर्ण की है और 'विद्वज्जनबोधक' मंत्री पन्नालालजी दूणीवालोंके द्वारा, जो उक्त पं० सदासुखजीके शिष्य थे, माघसुदी पंचमी संवत् १९३९ को बना-कर समाप्त हुआ है। इसलिए हलायुधजीकी यह भाषाटीका विक्रम संवत् १९३९ के बादकी बनी हुई निश्चित होती है।

हलायुधजीने अपनी इस टीकामें स्थान स्थानपर इस बातको प्रगट किया है कि यह 'श्रावकाचार' सूत्रकार भगवान् उमास्वामी महाराजका बनाया हुआ है। और इसके प्रमाणमें आपने निम्नलिखित श्लोकपर ही अधिक जोर दिया है। जैसा कि उनकी टीकासे प्रगट है :—

"सूत्रे तु सप्तमेप्युक्ताः पृथक् नोक्तास्तदर्थतः ।
अवशिष्टः समाचारः सोऽत्र वै कथितो ध्रुवम् ॥ ४६२ ॥"

टीका—"ते सत्तर अतीचार मैं सूत्रकारने सप्तम सूत्रमें कह्यो है ता प्रयोजन तै इहाँ जुदा नहीं कह्या है। जो सप्तम सूत्रमें अवशिष्ट समाचार है सो यामैं निश्चयकरि कह्यो है। अब याकूं जो अप्रमाण कहै ताकूँ अनंतसंसारी, निगोदिया, पक्षपाती कैसे नहीं जाण्या जाय जो बिना विचारया याका कर्त्ता दूसरा उमास्वामी है सो याकूं किया है (ऐसा कहै) सो भी या वचनकरि मिथ्यादृष्टि, धर्मद्रोही, निंदक, अज्ञानी जाणना।"

इस श्लोकसे भगवदुमास्वामीका ग्रन्थ-कर्तृत्व सिद्ध हो या न हो; परन्तु इस टीकासे इतना पता जरूर चलता है कि जिस समय यह टीका लिखी गई है उस समय ऐसे लोग भी मौजूद थे जो इस 'श्रावकाचार' को भगवान उमास्वामी सूत्रकारका बनाया हुआ नहीं मानते थे; बल्कि इसे किसी दूसरे उमास्वामीका या उमास्वामीके नामसे किसी दूसरे व्यक्ति-का बनाया हुआ बतलाते थे। साथ ही- यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे लोगोंके प्रति हलायुधजीके कैसे भाव थे और वे तथा उनके समान विचारके धारक मनुष्य उन लोगोंको कैसे कैसे शब्दोंसे याद किया करते थे। 'संशयतिमिरप्रदीप' में, पं० उदयलालजी काशलीवाल भी इस ग्रन्थको भगवान् उमास्वामीका बनाया हुआ लिखते हैं। लेकिन इसके विरुद्ध पं० नाथूरामजी प्रेमी, अनेक सूचियोंके आधारपर संग्रह की हुई अपनी 'दिगम्बरजैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' नामक सूचीद्वारा, यह सूचित करते हैं कि यह ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ता भगवान् उमास्वामीका बनाया हुआ नहीं है, किन्तु किसी दूसरे (लघु) उमास्वामीका बनाया हुआ है। परन्तु दूसरे उमास्वामी या लघु उमास्वामी कब हुए हैं और किसके शिष्य थे, इसका कहीं भी कुछ पता नहीं है। दरयाफ्त करनेपर भी यही उत्तर मिलता है कि हमें इसका कुछ भी निश्चय नहीं है। जो लोग इस ग्रन्थको भगवान् उमास्वामीका बनाया हुआ बतलाते हैं उनका यह कथन किस आधार पर अवलम्बित है? और जो लोग ऐसा माननेसे

इनकार करते हैं वे किन प्रमाणोंसे अपने कथनका समर्थन करते हैं? आधार और प्रमाणकी ये सब बातें अभी तक आमतौरसे कहींपर प्रकाशित हुई मालूम नहीं होतीं; न कहींपर इनका ज़िकर सुना जाता है और न श्रीउमास्वामी महाराजके पश्चात् होनेवाले किसी माननीय आचार्यकी कृतिमें इस ग्रन्थका नामोल्लेख मिलता है। ऐसी हालतमें इस ग्रन्थकी परीक्षा और जाँचका करना बहुत जरूरी मालूम होता है। ग्रन्थ-परीक्षाको छोड़कर दूसरा कोई समुचित साधन इस बातके निर्णयका प्रतीत नहीं होता कि यह ग्रंथ वास्तवमें किसका बनाया हुआ है और कब बना है?

ग्रन्थके साथ उमास्वामीके नामका सम्बन्ध है, ग्रन्थके अन्तिम श्लोकसे पूर्वके काव्यमें* 'स्वामी' शब्द पड़ा हुआ है और खुद ग्रन्थकर्त्ता महाशय उपर्युक्त श्लोक नं० ४६२ द्वारा यह प्रगट करते हैं कि 'इस ग्रंथमें सातवें सूत्रसे अवशिष्ट समाचार वर्णित है, इसीसे ७० अतीचार जो सातवें सूत्रमें वर्णन किये गये हैं वे यहां पृथक् नहीं कहे गये' इन सब बातोंसे यह ग्रन्थ सूत्रकार भगवदुमास्वामीका बनाया हुआ सिद्ध नहीं हो सकता। एक नामके अनेक व्यक्ति भी होते हैं; जैन साधुओंमें भी एक नामके धारक अनेक आचार्य और भट्टारक हो गये हैं; किसी व्यक्तिका दूसरेके नामसे ग्रंथ बनाना भी असंभव नहीं है। इसलिये जबतक किसी माननीय प्राचीन आचार्यके द्वारा यह ग्रन्थ भगवान् उमास्वामीका बनाया हुआ स्वीकृत न किया गया हो या खुद ग्रंथ ही अपने साहित्यादिपरसे उसकी साक्षी न दे, तबतक नामादिकके सम्बन्ध-मात्रसे इस ग्रंथको भगवदुमास्वामीका बनाया हुआ नहीं कह सकते। किसी माननीय प्राचीन आचार्यकी कृतिमें इस ग्रंथका कहीं नामोल्लेख तक न मिलनेसे अब हमें इसके साहित्यकी जाँच-द्वारा यही देखना चाहिये कि यह ग्रंथ, वास्तवमें, सूत्रकार

---

* अन्तिम श्लोकसे पूर्वका वह काव्य इस प्रकार है :—
"इति हतदुरितौघं श्रावकाचारसारं गदितमतिसुबोधावसकथं स्वामिभिश्च। विनयभरनतांगाः सम्यगाकर्णयन्तु विशदमतिमवाप्य ज्ञानयुक्ता भवंतु ॥४७३॥

भगवदुमास्वामीका बनाया हुआ है या कि नहीं ? यदि परीक्षासे यह ग्रंथ सचमुचही सूत्रकार श्रीउमास्वामीका बनाया हुआ सिद्ध हो जाय तब तो ऐसा प्रयत्न होना चाहिये जिससे यह ग्रंथ अच्छी तरहसे उपयोगमें लाया जाय और तत्त्वार्थसूत्रकी तरह इसका भी सर्वत्र प्रचार हो सके। अन्यथा, विद्वानोंको सर्व साधारणपर यह प्रगट कर देना चाहिए कि यह ग्रंथ सूत्रकार भगवदुमास्वामीका बनाया हुआ नहीं है, जिससे लोग इस ग्रंथको उसी दृष्टिसे देखें और वृथा भ्रममें न पड़ें।

ग्रंथको परीक्षा-दृष्टिसे अवलोकन करनेपर मालूम होता है कि इस ग्रन्थका साहित्य बहुतसे ऐसे पद्योंसे बना हुआ है जो दूसरे आचार्योंके बनाए हुए सर्वमान्य ग्रंथोंसे या तो ज्योंके त्यों उठाकर रक्खे गये हैं या उनमें कुछ थोड़ासा शब्द-परिवर्तन किया गया है। जो पद्य ज्योंके त्यों उठाकर रक्खे गये हैं वे 'उक्तं च' या 'उद्धृत' रूपसे नहीं लिखे गये हैं और न हो सकते हैं, इसलिए ग्रंथकर्ताने उन्हें अपने ही प्रगट किये हैं। भगवान् उमास्वामी जैसे महान् आचार्य दूसरे आचार्योंके बनाये हुए ग्रन्थोंसे पद्य लेवें और उन्हें सर्वथा अपने ही प्रगट करें, यह कभी हो नहीं सकता। ऐसा करना उनकी योग्यता और पदस्थके विरुद्ध ही नहीं, बल्कि एक प्रकारका हीन कर्म भी है। जो लोग ऐसा करते हैं उन्हें, यशस्तिलकमें, **श्रीसोमदेव** आचार्यने साफतौरसे **'काव्यचोर'** और **'पातकी'** लिखा है। यथा :—

"कृत्वा कृतीः पूर्वकृताः पुरस्तात्प्रत्यादरं ताः पुनरीक्षमाणः।
तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचोरोऽस्तु स पातकी च॥

लेकिन पाठकोंको यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि इस ग्रंथमें जिन पद्योंको ज्योंका त्यों या कुछ बदलकर रक्खा है वे अधिकतर उन आचार्योंके बनाये हुए ग्रंथोंसे लिये गये हैं जो सूत्रकार श्रीउमास्वामीसे प्रायः कई शताब्दियोंके पीछे हुए हैं। और वे पद्य, ग्रंथके अन्य स्वतंत्र बने हुए पद्योंसे, अपनी शब्दरचना और अर्थगांभीर्यादिके कारण स्वतः भिन्न मालूम पड़ते हैं। और साथ ही उन ग्रंथ-मणिमालाओंका स्मरण कराते हैं

जिनसे वे पद्य-रत्न लेकर इस ग्रन्थमें गूँथ गये हैं। उन पद्योंमेंसे कुछ पद्य, नमूनेके तौरपर, यहाँ पाठकोंके अवलोकनार्थ प्रकट किये जाते हैं:—

(१) ज्योंके त्यों उठाकर रक्खे हुए पद्य—

क—पुरुषार्थसिद्ध्युपायसे

"आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥६६॥
ग्रंथार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥२४१॥
संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥४३७॥
ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वं।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारत्वमिति हि दातृगुणाः ॥४३८॥

ये चारों पद्य श्रीअमृतचंद्राचार्य-विरचित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपायसे' उठाकर रक्खे गये हैं। इनकी टकसाल ही अलग है; ये 'आर्या' छंदमें हैं। समस्त पुरुषार्थसिद्ध्युपाय इसी आर्याछंदमें लिखा गया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें इन पद्योंके नम्बर क्रमशः ३०, ३६, १६८ और १६६ दर्ज हैं।

ख—यशस्तिलकसे

"यदेवाङ्गमशुद्धं स्याद‌द्भिः शोध्यं तदेव हि।
अंगुलौ सर्पदष्टायां न हि नासा निकृत्यते ॥४५॥
संगे कापालिकात्रेयीचांडालशवरादिभिः।
आप्लुत्य दंडवत्सम्यग्जपेन्मंत्रमुपोषितः ॥ ४६ ॥
एकरात्रं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके।
दिने शुध्यन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥ ४७ ॥

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम्।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥२७६॥

शुद्धं दुग्धं न गोर्मांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशं।
विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः ॥२७९॥

तच्छाक्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् ।
मतं विहाय हातव्यं मांसं श्रेयोर्थिभिः सदा ॥२८४॥"

ये सब पद्य श्रीसोमदेवसूरिकृत यशस्तिलकसे उठाकर रक्खे हुए मालूम होते हैं। इन पद्योंमें पहले तीन पद्य यशस्तिलकके छट्ठे आश्वासके और शेष पद्य सातवें आश्वासके हैं।

ग—योगशास्त्र (श्वेताम्बरीय ग्रन्थ) से

"सरागोऽपि हि देवश्चेद्गुरुरब्रह्मचार्यपि ।
कृपाहीनोऽपि धर्मश्चेत्कष्टं नष्टं हहा जगत् ॥ १४ ॥

हिंसा विघ्नाय जायेत विघ्नशांत्यै कृतापि हि।
कुलाचारधियाप्येषा कृता कुलविनाशिनी ॥ ३३ ॥

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वे निरुक्तिं मनुरब्रवीत् ॥ २६५ ॥

उलूककाकमार्जारगृध्रशंबरशूकराः ।
अहिवृश्चिकगोधाश्च जायंते रात्रिभोजनात् ॥ ३२६ ॥"

ये चारों पद्य श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित 'योगशास्त्र' से लिये हुए मालूम होते हैं। इनमेंसे शुरूके दो पद्य योगशास्त्रके दूसरे प्रकाशमें (अध्याय) क्रमशः नं० १४, ३३ पर और शेष दोनों पद्य तीसरे प्रकाशमें नं० २६ और ६७ पर दर्ज हैं। तीसरे पद्यके पहले तीन चरणोंमें मनुस्मृतिके वचनका उल्लेख है।

घ—विवेकविलास (श्वे० ग्रन्थ) से

"आरभ्यैकांगुलाद्बिम्बाद्यावदेकादशांगुलं । (उत्तरार्ध) ॥१०३॥
गृहे संपूजयेद्बिम्बमूर्ध्वं प्रासादगं पनः ।
प्रतिमा काष्ठलेपाश्मस्वर्णरूप्यायसां‡ गृहे ॥ १०४ ॥
मानाधिकपरिवाररहिता नैव पूजयेत् । (पूर्वार्ध) ॥ १०५ ॥
प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकं ।
सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः ॥ १०७ ॥
अतीताब्दशतं यत्स्यात् यच्च स्थापितमुत्तमैः ।
तद्व्यंगमपि पूज्यं स्याद्बिम्बं तन्निष्फलं न हि ॥ १०८ ॥"

ये सब पद्य जिनदत्तसूरिकृत 'विवेकविलास'के प्रथम उल्लासमें क्रमशः नं० १४४, १४५, १७८ और १४० पर दर्ज हैं और प्रायः वहींसे उठाकर यहाँ रक्खे गये मालूम होते हैं। ऊपर जिन उत्तरार्ध और पूर्वार्धोंको मिलाकर दो कोष्टक दिये गये हैं, विवेकविलासमें ये दोनों श्लोक इसी प्रकार स्वतन्त्र रूपसे नं० १४४ और १४५ पर लिखे हैं। अर्थात् उत्तरार्धको पूर्वार्ध और पूर्वार्धको उत्तरार्ध लिखा है। उमास्वामि—श्रावकाचारमें उपर्युक्त श्लोक नं० १०३ का पूर्वार्ध और श्लोक नं० १०५ का उत्तरार्ध इस प्रकारसे दिया है :—

"नवांगुले तु वृद्धिः स्यादुद्वेगस्तु षडांगुले (पूर्वार्ध) १०३ ॥"
"काष्ठलेपायसां भूताः प्रतिमाः साम्प्रतं न हि (उत्तरार्ध)१०५॥"

श्लोक नं० १०५ के इस उत्तरार्धसे मालूम होता है कि उमास्वामि-श्रावकाचारके रचयिताने विवेकविलासके समान काष्ठ, लेप और लोहेकी प्रतिमाओंका श्लोक नं० १०४ में विधान करके फिर उनका निषेध इन

‡ मुद्रित विवेकविलासमें 'स्वर्णरूप्यायसां' की जगह 'दन्तचित्रायसां' पाठ दिया है।

शब्दोंमें किया है कि आजकल ये काष्ठ, लेप और लोहेकी प्रतिमायें पूजनके योग्य नहीं हैं। इसका कारण अगले श्लोकमें यह बतलाया है कि ये वस्तुयें यथोक्त नहीं मिलतीं और जीवोत्पत्ति आदि बहुतसे दोषोंकी संभावना रहती है। यथा :—

"योग्यस्तेषां यथोक्तानां लाभस्यापि त्वभावतः।
जीवोत्पत्त्यादयो दोषा बहवः संभवंति च ॥ १०६ ॥"

ग्रन्थकर्त्ताका यह हेतु भी विद्वज्जनोंके ध्यान देने योग्य है।

ङ—धर्मसंग्रहश्रावकाचारसे

"माल्यधूपप्रदीपाद्यैः सचित्तैः कोऽर्चयेज्जिनम्।
सावद्यसंभवाद्वक्ति यः स एवं प्रबोध्यते ॥१३७॥
जिनार्चानेकजन्मोत्थं किल्बिषं हन्ति या कृता।
सा किन्न यजनाचारैर्भवं सावद्यमंगिनाम् ॥१३८॥
प्रेर्यन्ते यत्र वातेन दन्तिनः पर्वतोपमाः।
तत्राल्पशक्तितेजस्सु दंशकादिषु का कथा ॥१३९॥
भुक्तं स्यात्प्राणनाशाय विषं केवलमंगिनाम्।
जीवनाय मरीचादिसदौषधविमिश्रितम् ॥१४०॥
तथा कुटुम्बभोग्यार्थमारंभः पापकृद्भवेत्।
धर्मकृद्दानपूजादौ हिंसालेशो मतः सदा ॥१४१॥

ये पाँचों पद्य पं० मेधावीकृत 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार'के ६ वें अधिकारमें नम्बर ७२ से ७६ तक दर्ज हैं। वहींसे लिये हुए मालूम होते हैं।

च—अन्यग्रंथोंके पद्य

"नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥२६४॥

आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः ।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥२३॥
संवेगो निर्वेदो निन्दा गर्हा तथोपशमभक्ती ।
वात्सल्यं त्वनुकम्पा चाष्टगुणाः सन्ति सम्यक्त्वे ॥७८॥"

इन तीनों पद्योंमेंसे पहला पद्य मनुस्मृतिके पांचवें अध्यायका ४८वाँ पद्य है। योगशास्त्रमें श्रीहेमचन्द्राचार्यने इसे, तीसरे प्रकाशमें, उद्धृत किया है और मनुका लिखा है। इसीलिये या तो यह पद्य सीधा 'मनुस्मृति' से लिया गया है या अन्य पद्योंके समान योगशास्त्रसे ही उठाकर रक्खा गया है। दूसरा पद्य यशस्तिलकके छठे आश्वासमें और धर्मसंग्रहश्रावकाचारके चौथे अधिकारमें 'उक्तं च' रूपसे लिखा है। यह किसी दूसरे ग्रन्थका पद्य है—इसकी टकसाल भी अलग है—इसलिए ग्रन्थकर्त्ताने या तो इसे सीधा उस दूसरे ग्रन्थसे ही उठाकर रक्खा है और या उक्त दोनों ग्रन्थोंमेंसे किसी ग्रंथसे लिया है। तीसरा पद्य 'वसुनन्दिश्रावकाचार' की निम्नलिखित प्राकृत गाथाकी संस्कृत छाया है:—

"संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥४९॥

इस गाथाका उल्लेख 'पंचाध्यायी' में भी, पृष्ठ १३३ पर, 'उक्तं च' रूपसे पाया जाता है। इसलिए यह तीसरा पद्य या तो वसुनन्दिश्रावकाचारकी टीकासे लिया गया है, या इस गाथापरसे उल्था किया गया है।

(२) परिवर्तित पद्य

अब, उदाहरणके तौरपर, कुछ परिवर्तित पद्य, उन पद्योंके साथ जिनको परिवर्तन करके वे बनाये गये मालूम होते हैं, नीचे प्रगट किये जाते हैं। इन्हें देखकर परिवर्तनादिकका अच्छा अनुभव हो सकता है। इन पद्योंका परस्पर शब्दसौष्ठव और अर्थगौरवादि सभी विषय विद्वानोंके ध्यान देने योग्य हैं:—

१—स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिमता निर्विचिकित्सिता ॥१३॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार

स्वभावादशुचौ देहे रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्घृणा च गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥४१॥
—उमास्वामिश्रावकाचार

२—ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५ ॥
—रत्नकरण्ड श्रा०

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं गतदर्पा मदं विदुः ॥ ८५ ॥
—उमा० श्रा०

३—दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥ १६ ॥
—रत्नकरण्ड० श्रा०

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयाद्भ्रष्टस्य जन्मिनः ।
प्रत्यवस्थापनं तज्ज्ञाः स्थितीकरणमूचिरे ॥ ५८ ॥
—उमा० श्रा०

४—स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥
—रत्नकरण्ड० श्रा०

*साधूनां साधुवृत्तीनां सागाराणां सधर्मिणाम् ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं तज्ज्ञैर्वात्सल्यमुच्यते ॥ ६३ ॥
—उमा० श्रा०

---

* यह पूर्वार्ध 'स्वयूथ्यान्प्रति' इस इतने ही पदका अर्थ मालूम होता है। शेष 'सद्भावसनाथा' इत्यादि गौरवान्वित पदोंका इसमें भाव भी नहीं आया।

५—सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानंतरं तस्मात् ॥ ३३ ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

सम्यग्ज्ञानं मतं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं यतः।
ज्ञानस्याराधनं प्रोक्तं सम्यक्त्वानंतरं ततः ॥ २४७ ॥
—उमा० श्रा०

६—हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥ १०८ ॥
—पुरुषार्थसि०

तिलनाल्यां तिला यद्वत् हिंस्यन्ते बहवस्तथा।
जीवा योनौ च हिंस्यन्ते मैथुने निंद्यकर्मणि ॥ ३७० ॥
—उमा० श्रा०

* * * *

७—मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च, दुर्गतेः।
मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत् ॥
—यशस्तिलक

मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाद्भवापदाम्।
मद्यं सद्भिः सदा हेयमिहामुत्र च दोषकृत् ॥ २६१ ॥
—उमा० श्रा०

८—मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः ॥ ८० ॥
—यशस्तिलक

मूढत्रिकं चाष्टमदास्तथानायतनानि षट्।
शंकादयस्तथा चाष्टौ कुदोषाः पंचविंशतिः ॥ ८० ॥
—उमा० श्रा०

* * * *

९—साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते।
कथ्यते क्षायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परं॥ २-५८॥
—अमितगत्युपासकाचार

साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमीरितम्।
साधनं द्वितयं साध्यं क्षायिकं मुक्तिदायकम्॥२७॥
—उमा० श्रा०

* * * *

१०—हन्ता पलस्य विक्रेता संस्कर्ता भक्षकस्तथा।
क्रेतानुमन्ता दाता च घातका एव यन्मनुः*॥३-२०॥
—योगशास्त्र

हन्ता दाता च संस्कर्त्तानुमन्ता भक्षकस्तथा।
क्रेता पलस्य विक्रेता यः स दुर्गतिभाजनम्॥२६३॥
—उमा० श्रा०

११—स्त्रीसंभोगेन यः कामज्वरं प्रति चिकीर्षति।
स हुताशं घृताहुत्या विध्यापयितुमिच्छति॥२-८२॥
—योगशास्त्र

मैथुनेन स्मराग्निं यो विध्यापयितुमिच्छति।
सर्पिषा स ज्वरं मूढः प्रौढं प्रति चिकीर्षति॥३७१॥
—उमा० श्रा०

१२—कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्छा भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः।
राजयक्ष्मादिरोगाश्च भवेयुर्मैथुनोत्थिताः॥२-७९॥
—योगशास्त्र

स्वेदो भ्रान्तिः श्रमो ग्लानिर्मूर्च्छा कम्पो बलक्षयः।
मैथुनोत्था भवन्त्येते व्याधयोप्याधयस्तथा॥३६८॥
—उमा० श्रा०

---

* इसके आगे 'मनुस्मृति' के प्रमाण दिये हैं; जिनमेंसे एक प्रमाण "नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा······" इत्यादि ऊपर उद्धृत किया गया है।

१३—रजनीभोजनत्यागे ये गुणाः परितोऽपि तान्।
न सर्वज्ञादृते कश्चिदपरो वक्तुमीश्वरः ॥३-७०॥
—योगशास्त्र

रात्रिभुक्तिविमुक्तस्य ये गुणाः खलु जन्मिनः।
सर्वज्ञमन्तरेणान्यो न सम्यग्वक्तुमीश्वरः ॥३२७॥
—उमास्वा० श्रा०

योगशास्त्रके तीसरे प्रकाशमें, श्रीहेमचन्द्राचार्यने १५ मलीन कर्मादानोंके त्यागनेका उपदेश दिया है। जिनमें पाँच जीविका, पाँच वाणिज्य और पाँच अन्य कर्म हैं। इनके नाम दो श्लोकों (नं० ९९–१००)में इस प्रकार दिये हैं :—

१ अंगारजीविका, २ वनजीविका, ३ शकटजीविका, ४ भाटकजीविका, ५ स्फोटकजीविका, ६ दन्तवाणिज्य, ७ लाक्षावाणिज्य, ८ रसवाणिज्य, ९ केशवाणिज्य, १० विषवाणिज्य, ११ यंत्रपीड़ा, १२ निर्लांछन, १३ असतीपोषण, १४ दवदान और १५ सरःशोष। इसके पश्चात् (श्लोक नं० ११३ तक) इन १४ कर्मादानोंका पृथक् पृथक् स्वरूप वर्णन किया है। जिसका कुछ नमूना इस प्रकार है :—

"अंगारभ्राष्ट्राकरणांकुंभायः स्वर्णकारिता।
ठठारत्वेष्टकापाकाविती ह्यंगारजीविका ॥१०१॥

नवनीतवसाक्षौद्रमद्यप्रभृतिविक्रयः।
द्विपाच्चतुष्पाद् विक्रयो वाणिज्यं रसकेशयोः ॥१०८॥

नासावेधोङ्कनं मुष्कच्छेदनं पृष्ठगालनं।
कर्णकम्बलविच्छेदो निर्लांछनमुदीरितं ॥१११॥

सारिकाशुकमार्जारश्वकुर्कटकलापिनाम्।
पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषणं विदुः ॥११२॥
—योगशास्त्र

इन १५ कर्मादानोंके स्वरूपकथनमें जिन जिन कर्मोंका निषेध किया गया है, प्रायः उन सभी कर्मोंका निषेध उमास्वामिश्रावकाचारमें भी श्लोक नं० ४०३ से ४१२ तक पाया जाता है। परन्तु १४ कर्मादान त्याज्य हैं, वे कौन कौनसे हैं और उनका पृथक् पृथक् स्वरूप क्या है, इत्यादि वर्णन कुछ भी नहीं मिलता। योगशास्त्रके उपर्युक्त चारों श्लोकोंसे मिलते जुलते उमास्वामिश्रावकाचारमें निम्नलिखित श्लोक पाये जाते हैं, जिनसे मालूम हो सकता है कि इन पद्योंमें कितना और किस प्रकारका परिवर्तन किया गया है:—

"अंगारभ्राष्ट्रकरणमयः स्वर्णादिकारिता।
इष्टकापाचनं चेति त्यक्तव्यं मुक्तिकांक्षिभिः ॥४०४॥
नवनीतवसामद्यमध्वादीनां च विक्रयः।
द्विपाच्चतुष्पाच्च विक्रेयो न हिताय मतः क्वचित् ॥४०६॥
कंटनं नासिकावेधो मुष्कच्छेदोंघ्रिभेदनम्।
कर्णापनयनं नाम*निर्लांछनमुदीरितम् ॥४११॥
केकीकुक्कटमार्जारसारिकाशुकमंडलाः।
पोष्यंते न कृतप्राणिघाताः पारावता अपि ॥४०३॥

—उमा० श्रा०

रत्नकरंडश्रावकाचारादि ग्रंथोंके प्रणेता विद्वच्छिरोमणि स्वामी **समन्तभद्राचार्यका** अस्तित्व विक्रमकी दूसरी शताब्दीके लगभग माना जाता है; पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि ग्रन्थोंके रचयिता **श्रीमदमृतचन्द्रसूरिने** विक्रमकी १० वीं शताब्दीमें अपने अस्तित्वसे इस पृथ्वीतलको सुशोभित किया ऐसा कहा जाता है, यशस्तिलकके निर्माणकर्ता **श्रीसोमदेवसूरि** विक्रमकी ११ वीं शताब्दीमें विद्यमान थे और उन्होंने वि० सं० १०१६ (शक सं० ८८१) में यशस्तिलकको बनाकर समाप्त किया है, धर्मपरीक्षा

---

* 'निर्लांछन' का जब इससे पहले इस श्रावकाचारमें कहीं नामनिर्देश नहीं किया गया, तब फिर यह लक्षणनिर्देश कैसा?

तथा उपासकाचारादि ग्रन्थोंके कर्ता **श्रीअमितगत्याचार्य** विक्रमकी ११वीं शताब्दीमें हुए हैं; योगशास्त्रादि बहुतसे ग्रन्थोंकी रचना करनेवाले श्वेताम्बराचार्य **श्रीहेमचन्द्रसूरि** राजा कुमारपालके समयमें अर्थात् विक्रम-की १३ वीं शताब्दीमें (सं० १२२६ तक) मौजूद थे; विवेकविलासके कर्ता श्वेताम्बर साधु **श्रीजिनदत्तसूरि** वि० की १३ वीं शताब्दीमें हुए हैं; और पं० **मेधावीका** अस्तित्व-समय १६ वीं शताब्दी निश्चित है। आपने धर्मसंग्रह-श्रावकाचारको विक्रम संवत् १५४१ में बनाकर पूरा किया है।

अब पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि यह ग्रन्थ (उमास्वामि-श्राव-काचार), जिसमें बहुत पीछेसे होनेवाले इन उपर्युक्त विद्वानोंके ग्रन्थोंसे पद्य लेकर उन्हें ज्योंका त्यों या परिवर्तित करके रक्खा है, कैसे सूत्रकार भगवदुमास्वामीका बनाया हुआ हो सकता है ? सूत्रकार भगवान् उमा-स्वामीकी असाधारण योग्यता और उस समयकी परिस्थितिको, जिस समयमें कि उनका अवतरण हुआ है, सामने रखकर परिवर्तित पद्यों तथा ग्रन्थके अन्य स्वतन्त्र बने हुए पद्योंका सम्यगवलोकन करनेसे साफ मालूम होता है कि यह ग्रन्थ उक्त सूत्रकार भगवान्का बनाया हुआ नहीं है। बल्कि उनसे दशों शताब्दी पीछेका बना हुआ है।

विरुद्धकथन

इस ग्रन्थके एक पद्यमें व्रतके, सकल और विकल ऐसे, दो भेदोंका वर्णन करते हुए लिखा है कि सकल व्रतके १३ भेद और विकल व्रतके १२ भेद हैं। वह पद्य इस प्रकार है :—

> **"सकलं विकलं प्रोक्तं द्विभेदं व्रतमुत्तमं।**
> **सकलस्य त्रिदश भेदा विकलस्य च द्वादश ॥ २५६ ॥**

परन्तु सकल व्रतके वे १३ भेद कौनसे हैं ? यह कहींपर इस शास्त्रमें

प्रकट नहीं किया। तत्त्वार्थसूत्रमें सकलव्रत अर्थात् महाव्रतके पाँच भेद वर्णन किये हैं। जैसा कि निम्नलिखित दो सूत्रोंसे प्रगट है :—

"हिंसानृतस्तेयब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ ७-१ ॥

"देशसर्वतोऽणुमहती" ॥ ७-२ ॥

संभव है कि पंच समिति और तीन गुप्तिको शामिल करके तेरह प्रकारका सकलव्रत ग्रन्थकर्ताके ध्यानमें रहा हो। परन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें, जो भगवान् उमास्वामीका सर्वमान्य ग्रन्थ है, इन पंच समिति और तीन गुप्तियोंको व्रतसंज्ञामें दाखिल नहीं किया है। विकलव्रतकी संख्या जो बारह लिखी है वह ठीक है और यही सर्वत्र प्रसिद्ध है। तत्त्वार्थसूत्रमें भी १२ व्रतोंका वर्णन है, जैसा कि उपर्युक्त दोनों सूत्रोंको निम्नलिखित सूत्रोंके साथ पढ़नेसे ज्ञात होता है :—

"अणुव्रतोऽगारी" ॥ ७–२० ॥

"दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च" ॥ ७–२१ ॥

इस श्रावकाचारके श्लोक नं० ३२८* में भी इन गृहस्थोचित व्रतोंके पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह भेद वर्णन किये हैं। परन्तु इसी ग्रन्थके दूसरे पद्यमें ऐसा लिखा है कि—

"एवं व्रतं मया प्रोक्तं त्रयोदशविधायुतम्।
निरतिचारकं पाल्यं तेऽतीचारास्तु सप्ततिः ॥ ४६१ ॥

अर्थात्—मैंने यह तेरह प्रकारका व्रत वर्णन किया है, जिसको अतीचारोंसे रहित पालना चाहिए; और वे (व्रतोंके) अतीचार संख्यामें ७० हैं।

यहाँपर व्रतोंकी यह १३ संख्या ऊपर उल्लेख किये हुए श्लोक नं० २५६ और ३२८ से तथा तत्त्वार्थसूत्रके कथनसे विरुद्ध पड़ती है। तत्त्वा-

---

* "अणुव्रतानि पंच स्युस्त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि सागाराणां जिनागमे" ॥ ३२८ ॥

र्थसूत्रमें 'सल्लेखना' को व्रतोंसे अलग वर्णन किया है। इस लिये सल्लेखनाको शामिल करके यह तेरहकी संख्या पूरी नहीं की जासकती।

व्रतोंके अतीचार भी तत्त्वार्थसूत्रमें ६० ही वर्णन किये हैं। यदि सल्लेखनाको व्रतोंमें मानकर उसके पांच अतीचार भी शामिल कर लिये जावें तब भी ६५ (१३×५=६५) ही अतीचार होंगे। परन्तु यहाँपर व्रतोंके अतीचारोंकी संख्या ७० लिखी है, यह एक आश्चर्यकी बात है। सूत्रकार भगवान् उमास्वामीके वचन इस प्रकार परस्पर या पूर्वापर विरोधको लिये हुए नहीं हो सकते। इसी प्रकारका परस्परविरुद्ध कथन और भी कई स्थानोंपर पाया जाता है। एक स्थानपर शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हुए लिखा है :—

"स्वशक्त्या क्रियते यत्र संख्या भोगोपभोगयोः।
भोगोपभोगसंख्याख्यं तत्तृतीयं गुणव्रतम ॥ ४३० ॥"

इस पद्यसे यह साफ प्रकट होता है कि ग्रन्थकर्त्ताने, तत्त्वार्थसूत्रके विरुद्ध, भोगोपभोगपरिमाणव्रतको शिक्षाव्रतके स्थानमें तीसरा गुणव्रत वर्णन किया है! परन्तु इससे पहले खुद ग्रन्थकर्त्ताने 'अनर्थदण्डविरति' को ही तीसरा गुणव्रत वर्णन किया है। और वहाँ दिग्विरति, देशविरति तथा अनर्थदण्डविरति, ऐसे तीनों गुणव्रतोंका कथन किया है। गुणव्रतोंका कथन समाप्त करनेके बाद ग्रन्थकार इससे पहले आद्यके दो शिक्षाव्रत (सामायिक, प्रोषधोपवास) का स्वरूप भी दे चुके हैं। अब यह तीसरे शिक्षाव्रतके स्वरूप-कथनका नम्बर था, जिसको आप 'गुणव्रत' लिख गये! कई आचार्योंने भोगोपभोगपरिमाण व्रतको गुणव्रतोंमें माना है। मालूम होता है कि यह पद्य किसी ऐसे ही ग्रन्थसे लिया गया है, जिसमें भोगोपभोगपरिमाण व्रतको तीसरा गुणव्रत वर्णन किया है और ग्रन्थकार महाशय इसमें शिक्षाव्रतका परिवर्तन करना भूल गये अथवा उन्हें इस बातका स्मरण नहीं रहा कि हम शिक्षाव्रतका वर्णन कर रहे हैं। योगशास्त्रमें भोगोपभोगपरिमाणव्रतको दूसरा गुणव्रत वर्णन किया है और उसका स्वरूप इस प्रकार लिखा है :—

भोगोपभोगयोः संख्या शक्त्या यत्र विधीयते ।
भोगोपभोगमानं तद्द्वैतीयीकं गुणव्रतम ॥३-४॥

यह पद्य ऊपरके पद्यसे बहुत कुछ मिलता जुलता है। संभव है कि इसीपरसे ऊपरका पद्य बनाया गया हो और 'गुणव्रतम्' इस पदका परिवर्तन करना रह गया हो।

इस ग्रन्थके एक पद्यमें 'लोंच' का कारण भी वर्णन किया गया है। वह पद्य इस प्रकार है :—

अदैन्यवैराग्यकृते कृतोऽयं केशलोचकः ।
यतीश्वराणां वीरत्व व्रतनैर्मल्यदीपकः ॥५०॥

इस पद्यका ग्रन्थमें पूर्वोत्तरके किसी भी पद्यसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। न कहीं इससे पहले लोंचका कोई जिकर आया और न ग्रन्थमें इसका कोई प्रसंग है। ऐसा असम्बद्ध और अप्रासंगिक कथन उमास्वामी महाराजका नहीं हो सकता। ग्रन्थकर्ताने कहाँपरसे यह मजमून लिया है और किस प्रकारसे इस पद्यको यहाँ देनेमें गलती खाई है, ये सब बातें जरूरत होनेपर, फिर कभी प्रगट की जायँगी।

इन सब बातोंके सिवा इस ग्रन्थमें, अनेक स्थानोंपर, ऐसा कथन भी पाया जाता है जो युक्ति और आगमसे बिलकुल विरुद्ध जान पड़ता है, और इसलिये उससे और भी ज्यादह इस बातका समर्थन होता है कि यह ग्रन्थ भगवान् उमास्वामीका बनाया हुआ नहीं है। ऐसे कथनके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं :—

(१) ग्रंथकार महाशय, एक स्थानपर, लिखते हैं कि जिस मंदिरपर ध्वजा नहीं है, उस मंदिरमें किये हुए पूजन, होम और जपादिक सब ही विलुप्त हो जाते हैं अर्थात् उनका कुछ भी फल नहीं होता। यथा :—

प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकं ।
सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कर्यो ध्वजोच्छ्रयः ॥१०७॥

इसी प्रकार दूसरे स्थानपर लिखते हैं कि जो मनुष्य फटे पुराने, खंडित या मैले वस्त्रोंको पहिन कर दान, पूजन, तप, होम या स्वाध्याय करता है तो उसका ऐसा करना निष्फल होता है। यथा :—

"खंडिते गलिते छिन्ने मलिने चैव वाससि।
दानं पूजा तपो होमः स्वाध्यायो विफलं भवेत् ॥१३६॥

मालूम नहीं होता कि मंदिरके ऊपरकी ध्वजाका इस पूजनादिकके फलके साथ कौनसा सम्बन्ध है और जैनमतके किस गूढ़ सिद्धान्तपर ग्रंथकारका यह कथन अवलम्बित है। इसी प्रकार यह भी मालूम नहीं होता कि फटे पुराने तथा खंडित वस्त्रोंका दान, पूजन, तप और स्वाध्यायादिके फलसे कौनसा विरोध है जिसके कारण इन कार्योंका करना ही निरर्थक हो जाता है। भगवदुमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्रमें और **श्रीअकलंकदेवादिक** टीकाकारोंने 'राजवार्तिक' आदि ग्रंथोंमें शुभाशुभ कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारणोंका विस्तारके साथ वर्णन किया है। परन्तु ऐसा कथन कहीं नहीं पाया जाता, जिससे यह मालूम होता हो कि मन्दिरकी एक ध्वजा भी भावपूर्वक किये हुए पूजनादिकके फलको उलटपुलट करदेनेमें समर्थ है। सच पूछिये तो मनुष्यके कर्मोंका फल उसके भावोंकी जाति और उनकी तरतमतापर निर्भर है। एक गरीब आदमी अपने फटे पुराने कपड़ोंको पहने हुए ऐसे मन्दिरमें जिसके शिखरपर ध्वजा भी नहीं है, बड़े प्रेमके साथ परमात्माका पूजन और भजन भी कर रहा है और सिरसे पैरतक भक्तिरसमें डूब रहा है, वह उस मनुष्यसे अधिक पुण्य-उपार्जन करता है जो अच्छे सुन्दर नवीन वस्त्रोंको पहने हुए ध्वजावाले मन्दिरमें बिना भक्तिभावके, सिर्फ अपने कुलकी रीति समझता हुआ, पूजनादिक करता हो। यदि ऐसा नहीं माना जाय अर्थात् यह कहा जाय कि फटे पुराने वस्त्रोंके पहनने या मन्दिरपर ध्वजा न होनेके कारण उस गरीब आदमीके उन भक्ति-भावोंका कुछ भी फल नहीं है तो **जैनियोंको अपनी कर्म-फिलासोफीको उठाकर रख देना होगा।** परन्तु ऐसा

नहीं है। इसलिये इन दोनों पद्योंका कथन युक्ति और आगमसे विरुद्ध है। इनमेंसे पहला पद्य श्वेताम्बरोंके 'विवेकविलास'का पद्य है, जैसा कि ऊपर जाहिर किया गया है।

(२) इस ग्रंथके पूजनाध्यायमें, पुष्पमालाओंसे पूजनका विधान करते हुए, एक स्थानपर लिखा है कि चम्पक और कमलके फूलका उसकी कली आदिको तोड़नेके द्वारा भेद करनेसे मुनिहत्याके समान पाप लगता है। यथा :—

"नैव पुष्पं द्विधाकुर्यान्न छिंद्यात्कलिकामपि।
चम्पकोत्पलभेदेन यतिहत्यासमं फलम् ॥१२७॥"

यह कथन बिलकुल जैनसिद्धान्त और जैनागमके विरुद्ध है। कहाँ तो एकेंद्रिय फूलकी पंखड़ी आदिका तोड़ना और कहाँ मुनिकी हत्या! दोनोंका पाप कदापि समान नहीं हो सकता। जैनशास्त्रोंमें एकेंद्रिय जीवोंके घातसे लेकर पंचेंद्रिय जीवोंके घातपर्यंत और फिर पंचेंद्रियजीवोंमें भी क्रमशः गौ, स्त्री, बालक सामान्य मनुष्य, अविरतसम्यग्दृष्टि, व्रती श्रावक और मुनिके घातसे उत्पन्न हुई पापकी मात्रा उत्तरोत्तर अधिक वर्णन की है। और इसीलिये **प्रायश्चित्तसमुच्चयादि** प्रायश्चित्तग्रंथोंमें भी इसी क्रमसे हिंसाका उत्तरोत्तर अधिक दंड विधान कहा गया है। कर्मप्रकृतियोंके बंधादिकका प्ररूपण करनेवाले और **'तीव्रमंदज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः'** इत्यादि सूत्रोंके द्वारा कर्मास्रवोंकी न्यूनाधिकता दर्शानेवाले सूत्रकार महोदयका ऐसा असमंजस वचन, कि एक फूलकी पंखड़ी तोड़नेका पाप मुनि हत्याके समान है, कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकारके और भी बहुतसे असमंजस और आगमविरुद्ध कथन इस ग्रन्थमें पाये जाते हैं, जिन्हें इस समय छोड़ा जाता है। जरूरत होनेपर फिर कभी प्रगट किये जायँगे।

जहाँतक मैंने इस ग्रन्थकी परीक्षा की है, मुझे ऐसा निश्चय होता है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि **यह ग्रंथ सूत्रकार भगवान्**

उमास्वामी महाराजका बनाया हुआ नहीं है। और न किसी दूसरे ही माननीय जैनाचार्यका बनाया हुआ है। ग्रन्थके शब्दों और अर्थोंपरसे, इस ग्रंथका बनानेवाला कोई मामूली, अदूरदर्शी और क्षुद्रहृदय व्यक्ति मालूम होता है। और यह ग्रंथ १६ वीं शताब्दीके बाद १७ वीं शताब्दीके अन्तमें या उससे भी कुछ काल बाद, उस वक्त बनाया जाकर भगवान् उमास्वामीके नामसे प्रगट किया गया है, जब कि तेरह-पंथकी स्थापना हो चुकी थी और उसका प्राबल्य बढ़ रहा था। यह ग्रंथ क्यों बनाया गया है? इसका सूक्ष्म विवेचन फिर किसी लेखद्वारा, जरूरत होनेपर प्रगट किया जायगा। परन्तु यहाँपर इतना बतला देना ज़रूरी है कि इस ग्रंथमें पूजनका एक खास अध्याय है और प्रायः उसी अध्यायकी इस ग्रंथमें प्रधानता मालूम होती है। शायद इसीलिये हलायुधजीने, अपनी भाषाटीकाके अन्तमें, इस श्रावकाचारको "पूजा-प्रकरण-नाम-श्रावकाचार" लिखा है।

अन्तमें विद्वज्जनोंसे मेरा सविनय निवेदन है कि वे इस ग्रंथकी अच्छी तरहसे परीक्षा करके मेरे इस उपर्युक्त कथनकी जाँच करें और इस विषयमें उनकी जो सम्मति स्थिर होवे उससे, कृपाकर मुझे सूचित करनेकी उदारता दिखलाएँ। यदि परीक्षासे उन्हें भी यह ग्रंथ सूत्रकार भगवान् उमास्वामीका बनाया हुआ साबित न होवे, तब उन्हें अपने उस परीक्षाफलको सर्वसाधारणपर प्रगट करना चाहिये। और इस तरहपर अपने साधारण भाइयोंका भ्रम निवारण करते हुए प्राचीन आचार्योंकी उस कीर्तिको संरक्षित रखनेमें सहायक होना चाहिये जिसको कषायवश किसी समय कलंकित करनेका प्रयत्न किया गया है।

आशा है विद्वज्जन मेरे इस निवेदन पर अवश्य ध्यान देंगे और अपने कर्तव्यका पालन करेंगे। इत्यलं विज्ञेषु।

लेखक महोदयके दूसरे ग्रन्थ

१ स्वामी समन्तभद्र (इतिहासका महान् ग्रन्थ) (अप्राप्य)
२ जिन-पूजाधिकार-मीमांसा, (अप्राप्य)
३ ग्रन्थ-परीक्षा, प्रथमभाग (उमास्वामिश्रावकाचार, कुन्दकुन्द श्रा० और जिनसेनत्रिवर्णाचारकी परीक्षाएँ) (अप्राप्य)
४ ग्रन्थ-परीक्षा, द्वितीय भाग (भद्रबाहुसंहिताकी विस्तृत आलोचना और परीक्षा) (अप्राप्य)
५ ग्रन्थ-परीक्षा, तृतीय भाग (सोमसेनत्रिवर्णाचार, धर्मपरीक्षा (श्वेताम्बरी) अकलंकप्रतिष्ठापाठऔर पूज्यपाद-उपासकाचारकी परीक्षाएँ) (अप्राप्य)
६ ग्रन्थ-परीक्षा चतुर्थ भाग (सूर्यप्रकाशकी परीक्षा) ।=)
७ उपासनातत्त्व (उपासनाके रहस्यका प्रतिपादक) =)॥
८ सिद्धिसोपान ०)
९ विवाह-समुद्देश्य(संशोधित और परिवर्द्धित तृतीयावृत्ति)(अ०)
१० वीर-पुष्पांजलि (शिक्षाप्रद पद्यावली) (अप्राप्य)
११ विवाह-क्षेत्र-प्रकाश ।=)
१२ जैनियोंका अत्याचार (बड़ी मार्मिक पुस्तक है))॥
१३ अनित्यभावना (संशोधित और परिवर्द्धित द्वितीयावृत्ति) ०)
१४ जैनी कौन हो सकता है ?)॥
१५ शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण)॥
१६ मेरी भावना (राष्ट्रीय नित्यपाठ))।
१७ मेरी द्रव्य-पूजा)॥
१८ हम दुखी क्यों हैं ? =)॥
१९ वेश्या-नृत्य-स्तोत्र)॥
२० समाज-संगठन)।
२१ भगवान महावीर और उनका समय ।)

नोट—अप्राप्य ग्रन्थोंके फिरसे छपनेकी जरूरत है। मुख्तारसाहबके ये सभी ग्रन्थ पढ़ने तथा संग्रह करनेके योग्य हैं।

सब इंद्रियोंद्वारा इस देहमें जब प्रकाश और ज्ञानका उद्‌भव होता है तब सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई है ऐसा जानना चाहिए । ११

हे भरतर्षभ ! जब रजोगुणकी वृद्धि होती है तब लोभ प्रवृत्ति, कर्मोंका आरंभ, अशांति और इच्छाका उदय होता है । १२

हे कुरुनंदन ! जब तमोगुणकी वृद्धि होती है तब अज्ञान, मंदता, असावधानी और मोह उत्पन्न होता है । १३

सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई होनेपर देहधारी मरता है तो वह उत्तम ज्ञानियोंके निर्मल लोकको पाता है । १४

रजोगुणमें मृत्यु होनेपर देहधारी कर्मसंगीके लोकमें जन्मता है और तमोगुणमें मृत्यु पानेवाला मूढ़योनिमें जन्मता है । १५

टिप्पणी—कर्मसंगीसे तात्पर्य है मनुष्यलोक और मूढ़योनिसे तात्पर्य है पशु इत्यादि लोक ।

सत्कर्मका फल सात्त्विक और निर्मल होता है । राजसी कर्मका फल दुःख होता है और तामसी कर्मका फल अज्ञान होता है । १६

टिप्पणी—जिसे हम लोग सुख-दुःख मानते हैं यहां उस सुख-दुःखका उल्लेख नहीं समझना चाहिए । सुखसे